दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष अठवाँ
अंक दूसरा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

ज्येष्ठ
२४७८

अंधकार और प्रकाश

अंधकार में देखें तो सोना, लोहा, लकड़ी आदि सभी वस्तुएँ एक-सी दिखाई देती हैं, उनमें भिन्नता मालूम नहीं होती और दीपक के प्रकाश द्वारा देखने पर वे वस्तुएँ पृथक्-पृथक् यथावत् ज्ञात होती हैं; उसीप्रकार अज्ञानरूपी अंधकार में आत्मा और पर-वस्तुएँ एकमेक भासित होती हैं परन्तु आत्मा का पर से भिन्नत्व भासित नहीं होता। आत्मा को पर से भिन्न जानने के लिये प्रथम ही सम्यग्ज्ञानरूपी प्रकाश की आवश्यकता है। यह (सम्यग्ज्ञान) धर्म की इकाई है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

८६

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

'ज्ञानी के गज दूसरे ही होते हैं'

स्कूल में पढ़नेवाला नव वर्ष का एक बालक रविवार का दिन होने से घर पर ही था; उसके पिता बाजार से एक मलमल का थान लाये। पुत्र ने पिता से पूछा कि यह थान कितने हाथ का है ? पिता ने उत्तर दिया कि यह पचास हाथ का है। लड़ने ने उस थान को अपने हाथ से मापकर कहा कि यह थान तो पचहत्तर हाथ का है ! आपकी बात झूठ है। तब पिता ने कहा—भाई ! हमारे लेन-देन के काम में तेरे हाथ का माप नहीं चल सकता।

उसीप्रकार यहाँ ज्ञानी कहते हैं कि—बाह्यदृष्टिवाले बाल-अज्ञानी की बुद्धि में से उत्पन्न हुई कुयुक्ति, अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव को मापने में काम नहीं आती। धर्मात्माओं के हृदय को अज्ञानी नहीं माप सकते। इसलिये ज्ञानी को पहिचानने के लिये प्रथम उस मार्ग का परिचय करो, रुचि बढ़ाओ, विशाल बुद्धि, सरलता, मध्यस्थता, और जितेन्द्रियता इत्यादि गुण प्रगट करो ! संत की पहिचान होने से सत् का आदर होगा और तभी धर्मात्मा का उपकार समझ में आयेगा तथा अपने गुणों का बहुमान आकर वर्तमान में ही अपूर्व शांति प्रगट होगी।

—समयसार-प्रवचन से।

आत्मधर्म

ज्येष्ठ २४७८ ❀ वर्ष आठवाँ ❀ अंक दूसरा

ज्ञान लक्षण से प्रसिद्ध होनेवाला

अनंत धर्मस्वरूप अनेकान्तमूर्ति आत्मा

श्री समयसार पृष्ठ ५५५ से ज्ञानमात्र पर पूज्य स्वामीजी के
आत्मसन्मुखताप्रेरक सुन्दर-प्रवचन

[समयसार के परिशिष्ट में आचार्यदेव ने अनेकान्त के स्वरूप का
वर्णन किया है, उसमें प्रथम आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है,
तथापि उसके भी अनेकान्तपना है—यह बात सिद्ध
की है; तत्पश्चात् आत्मा की अनंत शक्तियों
में से ४७ शक्तियों का वर्णन किया है।
उनमें से यहाँ प्रथम विषय के
प्रवचन दिये जा रहे हैं;
४७ शक्तियों के प्रवचन
आगे क्रमशः दिये जायेंगे।]

❀ वीर सं० २४७४ कार्तिक कृष्णा १४ ❀

आत्मा में ज्ञानादि अनंतधर्म हैं; उन्हें परद्रव्यों और परभावों से भिन्न बतलाने के लिये आचार्यदेव 'ज्ञानमात्र' कहते आये हैं। वहाँ आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है, तथापि एकान्त नहीं हो जाता; क्योंकि, 'आत्मा ज्ञानमात्र है'—ऐसा कहने से ज्ञान से विरुद्ध जो रागादि भाव हैं, उनका तो निषेध हो जाता है, परन्तु ज्ञान के साथ रहनेवाले श्रद्धा, सुख आदि गुणों का कहीं निषेध नहीं होता। इसप्रकार ज्ञान के साथ दूसरे अनंत धर्म भी आत्मा में साथ ही होने से ज्ञानमात्र आत्मा को अनेकान्तपना है, वह बात यहाँ आचार्यदेव प्रश्न-उत्तर द्वारा स्पष्ट करते हैं।

प्रश्न : आत्मा अनेकान्तमय है, तथापि उसे 'ज्ञानमात्र' क्यों कहते हो ? आत्मा में कहीं एक ज्ञानगुण ही नहीं है, परन्तु श्रद्धा, चारित्र, सुख, अस्तित्व, जीवत्व, प्रभुत्व आदि अनंतगुण उसमें विद्यमान हैं, तथापि 'ज्ञानमात्र आत्मा है'—ऐसा कहने का क्या कारण ? 'आत्मा चैतन्यमूर्ति ज्ञानमात्र है, रागादि से पृथक् मात्र ज्ञायकभाव है'—ऐसा सारे समयसार में जोर देकर कहा है, तो आत्मा को ज्ञानमात्र कहने से अन्य धर्मों का निषेध तो नहीं हो जाता न ? अनंतधर्म युक्त होने पर भी आत्मा को ज्ञानमात्र कहने का क्या प्रयोजन है ?—ऐसा शिष्य ने प्रश्न किया है। यह प्रश्न करनेवाले ने इतना तो लक्ष में लिया है कि आचार्यदेव आत्मा को पर-से और विकार से तो पृथक् ही बतलाते हैं; आत्मा ज्ञानमात्र है—ऐसा बतलाते हैं। इतना लक्ष में लेकर पूछता है कि प्रभो ! अनंत धर्मात्मक आत्मा को ज्ञानमात्र क्यों कहा ?

शिष्य के प्रश्न का आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि—लक्षण की प्रसिद्धि द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि करने के लिये आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है। ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है, इसलिये वह आत्मा का लक्षण है। उस लक्षण द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि होती है।

ज्ञान लक्षण है और आत्मा लक्ष्य है। ज्ञान लक्षण आत्मा की प्रसिद्धि करता है। राग आत्मा का लक्षण नहीं है। ज्ञान लक्षण आत्मा को राग से पृथक् जानकर शुद्ध आत्मा को प्रसिद्ध करता है—कौन सा ज्ञान ? परोन्मुख हुआ ज्ञान नहीं परन्तु जो ज्ञान अन्तर्मुख होकर आत्मा को जानता है, वह ज्ञान आत्मा का लक्षण है। जो ज्ञान शुद्ध आत्मा को न जाने और राग में ही एकाकार हो जाये, उसे वास्तव में ज्ञान ही नहीं कहते हैं, क्योंकि उसने आत्मा की प्रसिद्धि नहीं की किन्तु राग की प्रसिद्धि की है। ज्ञान का कार्य आत्मवस्तु को प्रसिद्ध करना है; वह व्यवहार को-राग को या पर को प्रसिद्ध नहीं करता। 'राग है सो मैं नहीं हूँ, मैं शुद्ध आत्मा हूँ'—ऐसा ज्ञान घोषित करता है, परन्तु 'राग है सो मैं हूँ'—ऐसा वह घोषित नहीं करता। इसप्रकार आत्मा को प्रसिद्ध करने के लिये उसे 'ज्ञानमात्र' कहा गया है। 'ज्ञानमात्र' कहकर मात्र ज्ञान-गुण नहीं बतलाना है, परन्तु पूर्ण आत्मा बतलाना है।

पहले ग्यारहवीं गाथा में कहा था कि शुद्धनयानुसार बोध होने मात्र से आत्मा और कर्म का भेदज्ञान होता है अर्थात् शुद्धनय द्वारा आत्मा को जानने से कर्म से भिन्न सहज ज्ञायकस्वभावरूप से आत्मा अनुभव में आता है। और यहाँ ऐसा कहा है कि ज्ञान लक्षण से आत्मा प्रसिद्ध होता है; उसमें भी 'ज्ञान लक्षण' कहने से शुद्धनयानुसार हुआ ज्ञान लेना चाहिए। जो ज्ञान स्वसन्मुख होकर आत्मा

को न जाने और पर को ही जाने, वह ज्ञान आत्मा का लक्षण नहीं है। जो ज्ञान आत्मा को लक्ष्य करके उसे प्रसिद्ध करे-जाने-वह ज्ञान आत्मा का लक्षण है। राग से भिन्न आत्मा की प्रसिद्धि करनेवाला ज्ञान, राग को भी जानने की शक्तिवाला है।

यहाँ आचार्यदेव ने व्यवहाराभास को उड़ाया है, अर्थात् मात्र पर को ही जाननेवाला व्यवहारज्ञान वास्तव में आत्मा की प्रसिद्धि का साधन नहीं है; किन्तु अन्तरोन्मुख होकर शुद्धनय से आत्मा को जाने, वह ज्ञान ही आत्मा की प्रसिद्धि का साधन है—ऐसा बतलाया है।

जगत में लक्षण द्वारा लक्ष्य की पहिचान कराई जाती है। आत्मा का लक्षण ज्ञान है, उस ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा पहिचाना जाता है। शरीरादि तो आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं, इसलिए शरीर, आत्मा का लक्षण नहीं है, और रागादिभाव भी आत्मा के स्वभाव से अत्यन्त भिन्न हैं, वे रागादि भी आत्मा का लक्षण नहीं हैं। ज्ञान ही आत्मा का असाधारण विशेष गुण है; इसलिए वही आत्मा का लक्षण है। ज्ञानगुण स्व-पर को जानता है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में ज्ञानगुण नहीं है, और आत्मा के अनंत धर्मों में भी एक ज्ञानगुण ही स्व-पर प्रकाशक है, इसलिये वह असाधारण है; ज्ञान के अतिरिक्त अन्य श्रद्धा-चारित्रादि गुण निर्विकल्परूप हैं अर्थात् वे अपने को या पर को नहीं जानते हैं, मात्र ज्ञानगुण ही अपने को और पर को जानता है; इसलिये 'आत्मा ज्ञानमात्र है' ऐसा कहकर उस ज्ञानगुण द्वारा आत्मा की पहिचान कराई जाती है।

अनेक पदार्थ एकत्रित हो, उनमें से किसी एक पदार्थ को पृथक् करके बतलाने का जो साधन है, उसे लक्षण कहते हैं। 'आत्मा ज्ञानमात्र है'—ऐसा कहने से समस्त परद्रव्य और परभावों से पृथक् आत्मा जाना जाता है; पर्याय में राग और आत्मा एकमेक दिखलाई देते हैं, वहाँ ज्ञान लक्षण आत्मा को राग से भी भिन्न बतलाता है-इसप्रकार ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि होती है, इसलिये आत्मा को ज्ञानमात्र कहा गया है।

❀❀❀

अब शिष्य दूसरा प्रश्न करता है कि—इस लक्षण की प्रसिद्धि से क्या प्रयोजन है ? मात्र लक्ष्य ऐसा आत्मा ही प्रसिद्ध करने योग्य है। लक्ष्य-लक्षण के भेद किए बिना सीधा आत्मा ही बतला दीजिये न ? अन्त में तो आप हमें आत्मा की पहिचान ही कराना चाहते हैं; तो फिर लक्षण का भेद किये बिना सीधा आत्मा ही बतलाइये। भेद करके किसलिये कहते हैं ?

आचार्यदेव, शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते है कि—जिसे लक्षण अप्रसिद्ध हो, उसे लक्ष्य की

प्रसिद्धि नहीं होती। जिसे लक्षण प्रसिद्ध हो, उसी को लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है।

देखो, इसमें दो बातें आ जाती हैं। प्रथम तो जिसे ज्ञानलक्षण द्वारा लक्ष्य ऐसे आत्मा का भान और अनुभव वर्तता है, उसे तो लक्ष्य-लक्षण के भेद का कुछ प्रयोजन नहीं है; परन्तु जिसे लक्ष्य की खबर नहीं है, उसे लक्षण द्वारा लक्ष्य की पहिचान कराई जाती है। जिसे आत्मा के लक्षण की ही खबर नहीं है, उसे आत्मा का भान नहीं होता। 'शरीर आत्मा का लक्षण है अथवा शरीर को धारण कर रखना, वह आत्मा का गुण है'—ऐसा जो अज्ञानी मानता है, उसे प्रथम आत्मा का लक्षण बतलाते हैं कि—'देख भाई! आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, जो जानता है, वह आत्मा है।'—इसप्रकार लक्षण को जान लें, तभी लक्ष्य को पकड़ सकता है।

अज्ञानी को 'जो देह है, वही मैं हूँ, अथवा जो राग है, वहीं मैं हूँ'—ऐसी भ्रमणा है, इसलिये उसे तो आत्मा के लक्षण का ही भान नहीं है। राग की वृत्ति तो बाह्य में जाती है और उसमें आकुलता होती है, उसमें आत्मा का अनुभव नहीं होता, और ज्ञान अन्तरोन्मुख होने से आत्मा का अनुभव होता है तथा राग छूट जाता है; इसप्रकार राग और ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं; उनमें ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है।—ऐसा जाने तब आत्मा के लक्षण को जाना कहलाता है, और ऐसे लक्षण को जाने, तभी आत्मा का अनुभव होता है। अज्ञानीजन आत्मा को अनेक प्रकार से विपरीत लक्षणवाला मान रहे हैं, इसलिये उन्हें तो लक्षण ही अप्रसिद्ध है, तब फिर लक्ष्य की प्रसिद्धि कहाँ से हो? लक्षण तो उसे कहा जाता है कि जो त्रिकाल लक्ष्य के साथ रहे और लक्ष्य की पहचान कराये। शरीर या पुण्य कहीं आत्मा का लक्षण नहीं है, आत्मा का लक्षण तो ज्ञान है।

आत्मा ज्ञानस्वरूपी है; रागादि वास्तव में आत्मा का स्वरूप नहीं है। ऐसे ज्ञान लक्षण की प्रसिद्धि बिना अज्ञानी को लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं होती। जिसे ज्ञानस्वरूप लक्षण की प्रसिद्धि हो, उसी को लक्ष्य ऐसे आत्मा की खबर पड़ती है; इसलिए लक्ष्य-लक्षण का भेद करके अज्ञानी को ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा की पहिचान कराई जाती है। भाई! ज्ञान ही तेरा लक्षण है, आत्मा ज्ञान स्वरूप है; ज्ञान के अतिरिक्त रागादि समस्त भावों से अपने आत्मा को भिन्न समझ, ज्ञान को अन्तर्मुख करके आत्मस्वभाव के साथ एकमेक कर तो तुझे आत्मा को प्रसिद्धि अर्थात् अनुभव हो।—इसप्रकार लक्षण द्वारा लक्ष्य को ग्रहण करने का उपदेश है।

देखो, यह तो समयसार का परिशिष्ट; सूक्ष्म अन्तर की बात है। शरीरादि बाह्यक्रिया अथवा दयादि के स्थूल रागरूप व्यवहार को तो निकाल दिया; यहाँ मात्र लक्ष्य-लक्षण के भेदरूप सूक्ष्म

व्यवहार है। यह लक्ष्य-लक्षण के भेद भी अभेद आत्मा का लक्ष्य कराने के लिए है। 'ज्ञानमात्र आत्मा है'- ऐसा कहने में भी लक्षण-लक्ष्य का भेद पड़ता है, परन्तु यदि समझनेवाला स्वयं भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेकर समझ जाये तो लक्ष्य-लक्षण के भेद को व्यवहार माना जाता है। अभेद आत्मा को न समझे तो मात्र भेद को व्यवहार नहीं कहा जाता। उसी प्रकार अभेद को समझने में बीच में लक्षण-लक्ष्य के भेद आते हैं, उन्हें यदि सर्वथा न माने तो लक्षण के स्वीकार बिना वह लक्ष्य को भी नहीं पकड़ सकेगा।

यहाँ ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि होती है - ऐसा बतलाकर आचार्यदेव ने एकान्त व्यवहाराभासी या एकान्त निश्चयाभासी, इन दोनों का निषेध किया है।

व्यवहाराभासी अज्ञानी कहता है कि 'मात्र ज्ञान-ज्ञान क्या करते हो ? हम जो पुण्य की और देह की क्रिया करते हैं, वही करने दो न! वह साधन करते-करते किसी समय आत्मा की पहचान हो जाएगी!' यहाँ 'ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि होती है' - ऐसा कहकर उस व्यवहाराभास को उड़ा दिया है। अरे मूढ़! देह की क्रिया या पुण्य की क्रिया आत्मा को पहचानने का साधन नहीं है, किन्तु ज्ञान लक्षण द्वारा ही आत्मा की पहचान होती है, ऐसा जान।

और निश्चयाभासी अज्ञानी कहता है कि 'ज्ञान, वह साधन और आत्मा, साध्य - ऐसे भेद किसलिए करते हो ? सीधा अभेद आत्मा ही कहो न ? लक्षण द्वारा लक्ष्य को बतलाते हो, उसके बदले सीधा लक्ष्य ही बतला दो न!' 'जो लक्षण को न जाने, वह लक्ष्य को भी नहीं जानता; लक्षण को पहचानने से ही लक्ष्य को जाना जा सकता है' - ऐसा कहकर यहाँ उस निश्चयाभासी का भी निषेध किया है। जिसने कभी आत्मा को नहीं जाना है, उसे मात्र 'आत्मा आत्मा'- इतना कहने से ही आत्मा लक्ष्य में नहीं आता, इसलिए प्रथम उसे आत्मा का लक्षण बतलाना पड़ता है कि देख भाई! यह शरीर तो कुछ जानता नहीं है और भीतर जो राग की वृत्तियाँ होती हैं, उनमें भी जानने का सामर्थ्य नहीं है; जो इन सबको जानता है, वह तो ज्ञान है; वह ज्ञान, देह से और राग से पृथक है और तेरे आत्मा के साथ एकमेक है; ऐसा जो ज्ञान है, सो आत्मा है - इस प्रकार ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा की पहचान कराई जाती है। अभेद आत्मा में ढलते हुए बीच में इतना भेद आये बिना नहीं रहता। तथापि, 'ज्ञान ही आत्मा है' - ऐसा जो लक्ष्य-लक्षण का भेद है, वह कहीं राग को प्रसिद्ध करने के लिए नहीं है परन्तु आत्मा को ही प्रसिद्ध करने के लिए है। ज्ञान लक्षण का कार्य आत्मा को प्रसिद्ध करना है, परन्तु वह राग को प्रसिद्ध नहीं करता अर्थात् 'मैं राग हूँ' - ऐसा ज्ञानलक्षण नहीं बतलाता,

किन्तु 'मैं आत्मा हूँ' – ऐसा ज्ञान लक्षण बतलाता है। पहले लक्ष्य-लक्षण के भेद का विकल्प उठता है, तथापि उस विकल्प की ओर ज्ञान का जोर नहीं है किन्तु अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेने की ओर ही ज्ञान का जोर है; अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेने से वह भेद का विकल्प भी टूट जाएगा और मात्र लक्ष्यरूप आत्मा का अनुभव रह जायेगा; इस प्रकार लक्षण द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है।

कोई ऐसा कहे कि 'हमें तो मात्र लक्ष्य को ही जानना है, लक्षण को नहीं जानना चाहते; मात्र आत्मा को पहचानना है, किन्तु उसमें जो ज्ञानादि अनन्तगुण हैं और निर्मलपर्यायें प्रगट होती हैं – यह कुछ नहीं जानना चाहते; क्योंकि वह सब जानने में तो विकल्प आते हैं' – तो ऐसा माननेवाला शुष्कज्ञानी है। जैसे, कोई कहे कि मुझे गुड़ चाहिए है, किन्तु मिठास की आवश्यकता नहीं है; तो मिठास का निषेध करने से वहाँ गुड़ का ही निषेध हो जाएगा; उसी प्रकार ज्ञान लक्षण को पहचानने से इन्कार करे, उसे आत्मा ही ज्ञात नहीं हो सकता। जो निर्विकल्प आत्मानुभव में स्थिर हो गया हो, उसे लक्ष्य-लक्षण के भेद का विकल्प नहीं होता, परन्तु जिसने अभी आत्मा को लक्ष्य में नहीं लिया है, उसे आत्मा को पहचानने के लिए प्रथम उसका लक्षण जानना चाहिए। लक्षण को जानना कहीं विकल्प का कारण नहीं है, वह तो लक्ष्य को पहचानने का कारण है।

ज्ञान लक्षण आत्मा को प्रसिद्ध करता है; जिसे आत्मा के ज्ञान लक्षण की खबर नहीं है, उसे आत्मा की ही खबर नहीं है। ज्ञान लक्षण किसका है ? ज्ञान लक्षण राग का या व्यवहार का नहीं है परन्तु आत्मा का ही है। वह लक्षण शुद्ध आत्मा का ही लक्ष्य कराता है। जिसे ऐसे लक्षण की खबर नहीं है, उसे लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं होती। जो ज्ञान, राग में एकाकार हो गया, उसे यहाँ ज्ञान ही नहीं कहते; यहाँ तो जो ज्ञान स्वोन्मुख होकर आत्मा को लक्ष्य बनाये, उसी को आत्मा का लक्षण माना है और वह ज्ञान, आत्मा के ज्ञानसहित पर को भी यथार्थरूप से जानता है। ज्ञान लक्षण से आत्मा को लक्षित न करे और मात्र जैन शासन में कहे हुए व्यवहार का ही लक्ष्य रखे तो उसे भी आत्मा के लक्षण की खबर नहीं है, इसलिए उसे आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती।

ज्ञान का लक्ष्य आत्मद्रव्य है। ज्ञान क्या है ? – उसी की जिसे खबर नहीं है, उसे आत्मा का भान नहीं होता। जिसने लक्ष्य को नहीं जाना, ऐसे जीव को लक्षण द्वारा ही लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है। इन इन्द्रियों द्वारा अथवा राग द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं होता क्योंकि वे आत्मा का लक्षण नहीं है; इसलिए जो निमित्त पर या व्यवहार पर जोर देते हैं, उन्होंने आत्मा के ज्ञान लक्षण को ही नहीं जाना है। यहाँ तो ऐसा कहने का आशय है कि जो ज्ञान स्वोन्मुख होकर आत्मा को न जाने और मात्र

परोन्मुख या व्यवहारोन्मुख ही होता रहे, वह ज्ञान भी आत्मा का लक्षण नहीं है, अर्थात् वह वास्तव में ज्ञान ही नहीं है; क्योंकि उसने आत्मा को प्रसिद्ध नहीं किया किन्तु व्यवहार को प्रसिद्ध किया है। जो ज्ञान व्यवहार का **निषेध करके (स्वाश्रयद्वारा पराश्रय छोड़कर के) स्वभावसन्मुख होकर भगवान आत्मा को प्रसिद्ध करे - उसका अनुभव करे-वह ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है। जो लक्ष्य के साथ एकता करे, उसे लक्षण कहा, किन्तु लक्ष्य को छोड़कर पर के साथ एकता करे, उसे लक्षण नहीं कहा जाता। मात्र व्यवहार के ही आश्रम में रुकनेवाला जीव, आत्मा के लक्षण को नहीं जानता;** ग्यारह अङ्गों को जाननेवाला और व्यवहाररत्नत्रय को पालन करनेवाला द्रव्यलिङ्गी साधु भी यदि उस व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प से लाभ मानता हो तो उसने आत्मा के लक्षण को नहीं जाना है। ग्यारह अङ्गों के ज्ञातृत्व में या व्यवहाररत्नत्रय के शुभविकल्प में ऐसा सामर्थ्य नहीं है कि वह आत्मा की प्रसिद्धि कर सके। स्वसन्तुख हुआ ज्ञान ही आत्मा की प्रसिद्धि करता है। चौथे पाँचवें-छट्ठे गुणस्थान में भूमिकानुसार व्यवहार होता अवश्य है - विकल्प होता अवश्य है, परन्तु जो ज्ञान मात्र उस व्यवहार के सन्मुख रहकर उसी की प्रसिद्धि करे और आत्मसन्मुख होकर आत्मा की प्रसिद्धि न करे, वह ज्ञान मिथ्या है। उस मिथ्याज्ञान का लक्ष्य आत्मा नहीं है किन्तु उसका लक्ष्य तो एकान्त व्यवहार है, इसलिए वह मिथ्याज्ञान आत्मा का लक्षण नहीं है। आत्मा स्वसन्मुख से लक्षित होनेयोग्य है, उसकी जिसे खबर नहीं है, ऐसे जीव को यहाँ आत्मा का लक्षण बतलाया है। उस लक्षण को पहचानने से आत्मा की प्रसिद्धि हुए बिना नहीं रहती।

वीर सम्वत २४७५ महावीर-निर्वाण-कल्याणक

आत्मा को ज्ञानमात्र कहा गया है; वहाँ आत्मा रागादिस्वरूप नहीं है - ऐसा बतलाने के लिए उसे ज्ञानमात्र कहा है। 'ज्ञानमात्र' कहने से श्रद्धा, चारित्रादि धर्मों का निषेध नहीं समझना; वे तो सब 'ज्ञान मात्र' में साथ ही आ जाते हैं। ज्ञानमात्र कहने से पर का और विकार का तो निषेध होता है, परन्तु आत्मा के अनन्त धर्मों का निषेध नहीं होता। जिसे आत्मा का भान नहीं है। ऐसे जीव को लक्षण द्वारा आत्मा की पहचान कराने के लिए आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है; ज्ञान आत्मा का लक्षण है और उसके द्वारा आत्मा पहचाना जाता है। यदि ज्ञान लक्षण से आत्मा को पहचाने तो आत्मा के साथ ज्ञान की एकता प्रगट हो और विकार दूर हो जाये।

जो ज्ञान आत्मा को लक्ष्य बनाए, वह ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है। जो ज्ञान स्वलक्ष्य को चूककर मात्र पर को ही लक्ष्य बनाए, वह ज्ञान पर का लक्षण हो जाता है, अर्थात् मिथ्याज्ञान हो

जाता है। जाननेवाला ज्ञान तो आत्मा का है, इसलिए आत्मा के साथ एकता करके जाने, उसी को सच्चा ज्ञान कहा जाता है, और ऐसा ज्ञान लक्षण ही आत्मा की प्रसिद्धि करता है। परभव में कहाँ था, वह भले जानता हो, नरक-स्वर्ग को भी जानता हो; परन्तु यदि आत्मा को न जाने तो उस ज्ञान ने जानने योग्य आत्मा को नहीं जाना अर्थात् आत्मा को प्रसिद्ध नहीं किया; इसलिए उस ज्ञान को आत्मा का लक्षण नहीं कहा जाता। अज्ञानी को आत्मा की तो खबर नहीं है और आत्मा के ज्ञान लक्षण की भी खबर नहीं है; वह तो ऐसा मानता है कि 'इन समस्त परवस्तुओं को जानता है, वह ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है,' इसलिए वह पर का लक्ष्य छोड़कर स्वोन्मुख नहीं होता। वास्तव में, पर को ही जाने – ऐसा ज्ञान लक्षण नहीं है, ज्ञान लक्षण तो ऐसा है कि आत्मा को जानता है। यदि ज्ञान लक्षण को जाने तो आत्मा को पहचाने बिना न रहे।

ज्ञान लक्षण किसका ? – आत्मा का ! वह लक्षण आत्मा को पररूप या विकाररूप तो नहीं बतलाता और मात्र ज्ञानगुण को भी नहीं बतलाता, परन्तु अनन्त गुण के पिण्डरूप आत्मद्रव्य को वह बतलाता है। ऐसे आत्मा को लक्ष्य में न लेकर जो ज्ञान भेद-विकार या पर के लक्ष्य में रुके, वह ज्ञान आत्मा का लक्षण नहीं है। जो ज्ञान आत्मोन्मुख होकर आत्मा को लक्ष्य बनाए-ध्येय बनाये – साध्य करे, वह ज्ञान आत्मा का लक्षण है और उस ज्ञान की स्व-पर प्रकाशक शक्ति विकसित हो गयी है, इसलिए वह पर को भी जानता है।

अज्ञानी जीव द्रव्यलिङ्गी दिगम्बर जैन साधु हुआ और पञ्च महाव्रत का पालन करके नववें ग्रैवेयक तक गया, परन्तु उसी को आत्मा के लक्षण की खबर नहीं पड़ी; ज्ञान द्वारा उसने आत्मा को प्रसिद्ध नहीं किया, परन्तु ज्ञान को राग के साथ एकमेक मानकर उसने व्यवहार की ही प्रसिद्धि की। राग से पृथक् ज्ञान कैसा होता है, वह उसने नहीं जाना। यदि ज्ञान लक्षण को जाने तो आत्मा ज्ञात हुए बिना न रहे।

जिसे लक्षण अप्रसिद्ध है, उसे लक्ष्य अप्रसिद्ध है। जिसे लक्षण प्रसिद्ध हो, उसे लक्ष्य प्रसिद्ध हुए बिना नहीं रहता। इसलिए यहाँ ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि कराने के लिए आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है। लक्षण द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि होती ही है –ऐसी बात यहाँ की है।

पूर्व अनन्त काल में जीव ने शास्त्राध्ययन किया और व्यवहारचारित्र का पालन किया परन्तु राग से मेरा ज्ञान पृथक् है – इस प्रकार ज्ञान लक्षण की प्रसिद्धि (प्र+सिद्धि = विशेषरूप से निर्णय, पहचान) नहीं की, इसलिए आत्मा को नहीं जाना और भव भ्रमण का अन्त नहीं आया। राग से ज्ञान

को पृथक् जानकर यदि अन्तरोन्मुख करे तो उस ज्ञान लक्षण द्वारा भगवान आत्मा की प्रसिद्धि होती है, और भव-भ्रमण दूर हो जाता है।

❀❀❀

प्रत्येक आत्मा स्वयं अनन्त शक्ति का पिण्ड चैतन्य परमेश्वर है, उसे बतलाने की यह बात चल रही है। वह किस प्रकार ज्ञात होता है ? ज्ञान लक्षण से ही ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त अन्य चाहे जो करे तो वह आत्मा को जानने का उपाय नहीं है। ज्ञान को स्वोन्मुख करके द्रव्य को लक्षणरूप करना, वह धर्म है।

देखो, इसमें व्यवहार क्या आया ? कि 'ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा ज्ञात होता है' - इतना लक्ष्य-लक्षण भेद का व्यवहार यहाँ लिया है। इसके अतिरिक्त शुभराग द्वारा आत्मा ज्ञात होता है - ऐसा व्यवहार नहीं लिया; क्योंकि यह अनादि से कर ही रहा है। ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा ज्ञात होता है, ऐसे भेदरूप जो व्यवहार यहाँ कहा है, वह व्यवहार अनादि से नहीं किया है, किन्तु नवीन प्रगट होता है। यह तो निश्चयपूर्वक का व्यवहार है। मात्र मन्द कषाय तो अनादि काल से कर रहा है, उस मन्द कषाय का निषेध करके यदि उसे व्यवहार कहलानेवाला निश्चय स्वभाव जागृत नहीं हुआ तो उस मन्द कषाय को व्यवहार कौन कहेगा ? निश्चय के बिना व्यवहार किसका ? रागरहित निश्चय स्वभाव को जाना, तभी मन्द कषायरूप शुभराग में व्यवहार का आरोप आता है। व्यवहार को व्यवहाररूप जाननेवाला ज्ञान स्वयं व्यवहार के साथ एकमेक होकर नहीं जानता, किन्तु स्वयं राग से (व्यवहार से) पृथक होकर व्यवहार को जानता है। जहाँ व्यवहार का निषेध करनेवाला निश्चय जागृत नहीं हुआ, वहाँ व्यवहार को व्यवहाररूप से कौन कहेगा ? अखण्ड परिपूर्ण आत्मद्रव्य का लक्ष्य करने से श्रद्धा आदि अनन्त गुणों की प्रसिद्धि होती है। यदि ज्ञान द्वारा उस आत्मद्रव्य का लक्ष्य करे तो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा को, नव तत्त्वों के ज्ञान को अथवा मन्द कषाय को उपचार से व्यवहार कहा जाता है।

यहाँ तो एकदम अन्तरोन्मुख करना है, इसलिए स्थूल व्यवहार की बात न लेकर अपने में ही लक्ष्य-लक्षण भेदरूप व्यवहार लिया है।

आत्मसिद्धि में कहा है कि 'त्याग वैराग न चित्तमाँ, थाय न तेने ज्ञान।' उसमें नास्ति से मन्द कषाय जितनी बात ली है।

और यहाँ कहते हैं कि 'लक्षण ने जाण्या बिना, थाय न लक्ष्यनु ज्ञान।' यहाँ तो आत्मस्वभाव

के अत्यन्त निकट लाकर बात की है। 'ज्ञान ही आत्मा है' – इतना भेद करके अभेद आत्मा का लक्ष्य कराते हैं कि देखो भाई! यह तुम्हारा ज्ञान जानता है न? यह ज्ञान ही आत्मा है। जो ज्ञान बाह्योन्मुख होता है, उसे अन्तरोन्मुख कर, तो उस ज्ञान द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि होती है। 'आत्मा ज्ञानमय है' – ऐसा कहने से ज्ञान लक्षण है और आत्मा लक्ष्य है – ऐसा जो भेद पड़ता है, उसे व्यवहार कहा है परन्तु उस भेद का भी निषेध करके अभेद आत्मा का लक्ष्य हो जाये – ऐसी शैली की यह बात है।

❀❀❀

ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा की पहचान कराने के लिए लक्ष्य-लक्षण के भेद करके समझाया कि ज्ञान लक्षण आत्मा को प्रसिद्ध करता है। वहाँ शिष्य पुनः प्रश्न करता है कि 'प्रभो! ऐसा कौन-सा लक्ष्य है कि जो ज्ञान की प्रसिद्धि द्वारा उससे भिन्न प्रसिद्ध होता है? ज्ञान से पृथक् ऐसा कौन-सा लक्ष्य है कि जिसे यह ज्ञान लक्षण प्रसिद्ध करता है? जिसे आप ज्ञान लक्षण से समझाना चाहते हैं, वह वस्तु क्या ज्ञान से पृथक् है? ज्ञान की प्रसिद्धि द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि होती है – ऐसा कहा, तो क्या ज्ञान की और आत्मा की प्रसिद्धि अलग-अलग है?' देखो, शिष्य को ज्ञान और आत्मा-लक्ष्य-लक्षण का भेद खटकता है, इसलिए यह प्रश्न उठा है। अन्तर में एकदम निकट आये हुए शिष्य का यह प्रश्न है। आत्मा को लक्ष्य में लेते हुए गुण-गुणी भेद का विकल्प उठता है, उसे भी छोड़कर अभेद आत्मा के अनुभव के लिए यह प्रश्न है।

आचार्यदेव उसे उत्तर देते हैं कि भाई! ज्ञान से भिन्न लक्ष्य नहीं है, क्योंकि ज्ञान और आत्मा को द्रव्यरूप से अभेदता है। तुझे पहचान कराने के लिए लक्ष्य-लक्षण के भेद से कहा था परन्तु वस्तुरूप से तो अभेदता है। जहाँ ज्ञान को आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख किया, वहाँ वह ज्ञान और आत्मा अभेद ही है। ज्ञानपर्याय को अन्तरोन्मुख करने से वह द्रव्य के साथ अभेद हो जाती है, इसलिए ज्ञान को और आत्मा को द्रव्य से अभेदता है; नामभेद, प्रयोजनभेद, लक्ष्यलक्षणभेद होने पर भी, स्वभाव से भेद नहीं है। आत्मा रागादि से तो भिन्न प्रसिद्ध होता है, किन्तु ज्ञान से भिन्न प्रसिद्ध नहीं होता। ज्ञान की प्रसिद्धि से आत्मा की प्रसिद्धि पृथक् नहीं है; जो ज्ञान की प्रसिद्धि है, वही आत्मा की प्रसिद्धि है। जिसे अभेद आत्मा की खबर नहीं है, उसे लक्ष्य-लक्षण के भेद करके समझाते हैं परन्तु वस्तुरूप से ज्ञान और आत्मा पृथक् नहीं है। जब ज्ञान-पर्याय स्वोन्मुख होकर एकाग्र हुई, तब उसे लक्षण कहा गया और आत्मा उसका लक्ष्य हुआ; इस प्रकार लक्ष्य-लक्षण को

प्रसिद्धि एक ही साथ है। ज्ञान आत्मा में एकाग्र हुआ, वहाँ लक्ष्य-लक्षण भेद का विकल्प भी नहीं रहा और द्रव्य-पर्याय अभेद हो गए; इसलिए ज्ञान लक्षण से पृथक् कोई लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य-लक्षण अभेद है।

❀❀❀

शिष्य पुनः **प्रश्न** करता है कि यदि ज्ञान और आत्मा अभेद है, पृथक् नहीं हैं, तब फिर उनमें भेद करके क्यों कहा? यदि दोनों पृथक न हों तो ज्ञान लक्षण और आत्मा लक्ष्य – ऐसे भेद क्यों किए?

उसका **उत्तर** – प्रसिद्धत्व और प्रसाध्यमानत्व के कारण लक्षण और लक्ष्य का विभाग किया गया है। ज्ञान स्वयं प्रसिद्ध है और उस ज्ञान द्वारा आत्मा को प्रसिद्ध किया जाता है। लोग ज्ञान मात्र को तो स्वसंवेदन से जानते हैं। पेट में दर्द होता है; सिर में दर्द है – ऐसा किसने जाना? ज्ञान ने जाना। इस प्रकार ज्ञान तो प्रसिद्ध है परन्तु अज्ञानी उस ज्ञान द्वारा मात्र पर की प्रसिद्धि करता है, इसलिए उस ज्ञान को स्वसन्मुख करके आत्मा की प्रसिद्धि करने के लिए, आत्मा और ज्ञान का लक्ष्य-लक्षण भेद करके समझाया है।

झनझनी चढ़े और भीतर झमझमाट हो, उसे किसने जाना? – ज्ञान ने जाना; वह ज्ञान किसका? मेरा। तू कौन? – आत्मा; इसलिए जो ज्ञान करे, वह आत्मा है; राग-द्वेष, आत्मा नहीं है। ऐसा समझे तो ज्ञान का लक्ष्य आत्मा की ओर जाये और आत्मा का अनुभव हो। भाई! यह सब जानता है, वह ज्ञान तो आत्मा का है; इसलिए उस ज्ञान को आत्मोन्मुख कर! आत्मोन्मुख रहकर स्व-पर को जाने, ऐसी ज्ञान की शक्ति है। लोग सामान्यरूप से ज्ञान को तो जानते हैं, इसलिए ज्ञान तो उन्हें प्रसिद्ध है, परन्तु ज्ञान जिसका लक्षण है—ऐसे आत्मा को वे नहीं जानते, इसलिए आत्मा अनादि से अप्रसिद्ध है; इसलिए प्रसिद्ध ऐसे ज्ञान द्वारा, अप्रसिद्ध आत्मा को प्रसिद्ध कराने के लिए लक्षण और लक्ष्य – ऐसे विभाग करके समझाया है।

लोग कहते हैं कि हमें पैसा, मकान, पुस्तकादि का ज्ञान होता है, इसलिए ज्ञान को तो स्वीकार करते हैं परन्तु उस ज्ञान का लक्ष्य पर को ही बनाते हैं, मानो परोन्मुख होकर जानने का ज्ञान का स्वरूप हो, ऐसा मानते हैं। उन्हें यहाँ समझाते हैं कि ज्ञान का लक्ष्य तो आत्मा है, इसलिए ज्ञान को आत्मोन्मुख करके उस ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा को प्रसिद्ध कर! इस टीका का नाम 'आत्मख्याति' है, आत्मख्याति अर्थात् आत्मा की प्रसिद्धि, आत्मा का अनुभव; वह आत्मप्रसिद्धि कैसे हो, उसकी यह बात चलती है। ज्ञान लक्षण द्वारा ही आत्मा की प्रसिद्धि होती है।

प्रथम तो सत्समागम द्वारा ऐसे सत्य का श्रवण करना चाहिए। जहाँ सत्य का श्रवण भी नहीं है, वहाँ ग्रहण नहीं है; जहाँ ग्रहण नहीं है, वहाँ धारणा नहीं है; जहाँ धारण नहीं है, वहाँ रुचि नहीं है और रुचि नहीं है, वहाँ परिणमन नहीं होता। जिसे आत्मा की रुचि हो, उसे प्रथम उसका श्रवण, ग्रहण, धारण और रुचि, पश्चात अन्तर में उसका परिणमन कैसे होता है, उसकी यह बात है।

आत्मा का सम्यक्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने से आत्मा प्रसिद्ध हुआ – ऐसा कहा जाता है। व्रत–तपादि का शुभराग, आत्मा की प्रसिद्धि का साधन नहीं है परन्तु ज्ञान को अन्तरोन्मुख करना, वह एक ही भगवान आत्मा की प्रसिद्धि का साधन है।

❀❀❀

ज्ञान लक्षण कैसे आत्मा को प्रसिद्ध करता है? ज्ञान के साथ अविनाभूत ऐसे अनन्त धर्मों के समुदायरूप मूर्ति आत्मा है, उसे ज्ञान प्रसिद्ध करता है। 'ज्ञान, वह आत्मा' – ऐसा कहने से अकेला ज्ञानगुण पृथक् होकर लक्ष्य में नहीं आता, किन्तु ज्ञानादि अनन्तगुणों का पिण्ड आत्मा लक्ष्य में आता है। आत्मा अनन्त धर्मों के समुदायरूप मूर्ति है – ऐसा कहकर यहाँ अनेकान्त सिद्ध किया। अनन्त धर्म कहने में ज्ञान की बड़ी विशालता है।

देखो, यहाँ आत्मा को अनन्त धर्मात्मक कहने से त्रिकाल शुद्ध धर्म ही बतलाना है; तीनों काल ज्ञान के साथ विद्यमान है – ऐसे निर्मल धर्मों को ही यहाँ लेना है; विकार को यहाँ आत्मा का धर्म नहीं गिना है। कभी एक समय की पर्याय में विकार हो, उसे भी आत्मा का अनित्य धर्म कहा जाता है परन्तु यहाँ तो आत्मा की शुद्ध शक्तियों का ही वर्णन है। ज्ञान लक्षण आत्मा को विकार से पृथक् बतलाता है, इसलिए यहाँ आत्मा को अनन्त धर्मात्मक कहा, उसमें विकारी धर्म नहीं लेना चाहिए। यहाँ तो ज्ञान लक्षण से शुद्ध आत्मद्रव्य का लक्ष्य कराना है। ज्ञान में ध्येय किसे बनाना, उसकी यह बात है। आत्मा ज्ञानमात्र है—ऐसा कहने से ज्ञान के साथ विद्यमान रुचि, प्रतीति, स्थिरता, आनन्द, प्रभुत्व, स्वच्छत्व आदि अनन्त धर्मों के पिण्डरूप आत्मा को ध्येय बनाना चाहिए। ज्ञान को अन्तर्मुख करके ऐसे आत्मा को ध्येय बनाने से आत्मा की प्रसिद्धि होती है, अर्थात् सम्यक श्रद्धा–ज्ञान प्रगट होते हैं।

'ज्ञान, वह आत्मा' – ऐसा कहने से 'राग, वह आत्मा नहीं है' – ऐसा सिद्ध हो जाता है, क्योंकि ज्ञान लक्षण से राग लक्षित नहीं होता परन्तु ज्ञान लक्षण द्वारा अनन्त धर्मात्मक आत्मद्रव्य ही लक्षित होता है। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! जानने में राग की ओर या पर की ओर वृत्ति

जाए, वह तेरा स्वलक्षण नहीं है, ज्ञान के साथ त्रिकाल अविनाभावी स्वभाववाला अनन्तगुण के पिण्डस्वरूप आत्मा है, उस ओर ज्ञान का लक्ष्य कर! रागादि तो वास्तव में ज्ञान से भिन्न है, इसलिए उन रागादिभावों को ज्ञान का लक्ष्य मत बना! आत्मोन्मुख ज्ञान ही तेरा स्वलक्षण है और ऐसे स्वलक्षण से ही आत्मा का अनुभव होता है।

यहाँ तो आचार्यदेव लक्षण और लक्ष्य को अभेद बतलाते हैं। जो लक्षण छूट जाए, वह वास्तव में वस्तु का शाश्वत लक्षण नहीं है। आत्मा रागी-द्वेषी है—ऐसा कहना, वह वास्तव में आत्मा का लक्षण नहीं है। वे रागादि भाव तो आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। आत्मा त्रिकाल है, उसके साथ एकमेकरूप रहकर आत्मा को बतलाये, यही आत्मा का लक्षण है; इसलिए यहाँ ज्ञानमात्र लक्षण द्वारा आत्मा की पहचान कराई है। आत्मा में मात्र एक ज्ञानगुण ही नहीं है किन्तु अनन्त धर्म है; आत्मा के स्वभाव में दर्शन-ज्ञान-चारित्र-आनन्द-स्वच्छत्व-प्रभुत्व आदि अनन्त धर्म है; काल अपेक्षा से तो अनन्त है और संख्या अपेक्षा से भी अनन्त शक्तियाँ एक साथ विद्यमान हैं। एक ही साथ विद्यमान अनन्ती शक्तियाँ और उनके क्रमशः होनेवाले अनन्त निर्मल अंश - ऐसे अनन्त धर्मों की मूर्ति आत्मा है, उसे ज्ञान बतलाता है।

जिस प्रकार नक्शे में भिन्न-भिन्न प्रकार के रङ्गों द्वारा भिन्न-भिन्न राज्यों की सीमा बतलाते हैं; उसी प्रकार यहाँ ज्ञान लक्षण से आत्मा को बतलाते हैं कि जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ आत्मा है। ज्ञान के साथ अभेदरूप से जितने धर्म ज्ञात हों, वह सब आत्मा है; रागादिभाव उस आत्मा की सीमा से बाहर हैं, क्योंकि उनमें ज्ञान व्याप्त नहीं होता। ज्ञान अनन्त धर्मात्मक आत्मा को प्रसिद्ध करता है; इसलिए उस ज्ञानमात्र में अचलितरूप से स्थापित दृष्टि द्वारा क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान, ज्ञान के साथ अविनाभावी ऐसा जो अनन्त धर्म समूह लक्षित होता है, वह सारा वास्तव में एक आत्मा है। ऐसा आत्मा बतलाने के लिए ही आत्मा को ज्ञानमात्र कहा जाता है।

वीर सं० २४७५, कार्तिक शुक्ला १

आत्मा का लक्षण ज्ञान है; उससे आत्मा ज्ञात होता है। अनेक पदार्थों में से जो किसी एक मुख्य पदार्थ को पृथक् करके बतलाये, उसे लक्षण कहते हैं। ज्ञान आत्मा को समस्त परद्रव्यों और परभावों से पृथक् बतलाता है; इसलिए वह आत्मा का लक्षण है। राग के सन्मुख देखने से आत्मा पहचान में नहीं आता, इसलिए राग आत्मा से भिन्न है। ज्ञान लक्षण और आत्मा परमार्थतः अभेद है; इसलिए ज्ञान लक्षण को जानने से आत्मा की पहचान भी हो जाती है। आत्मा में अनन्त धर्म होने पर

भी, ज्ञानमात्र कहकर उसकी पहचान करायी है। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर को जानने का है, इसलिए वह समस्त जीवों के प्रसिद्ध है। ज्ञान के अतिरिक्त जो श्रद्धा-सुख आदि अनन्त धर्म है, वे स्वयं अपने को या पर को नहीं जानते; इसलिए ज्ञान को ही लक्षण कहा है। उस ज्ञान लक्षण द्वारा अनन्तगुणों की मूर्ति आत्मा की ही प्रसिद्धि करनेयोग्य-जाननेयोग्य-ध्यान करनेयोग्य-लक्ष्य करनेयोग्य है; ज्ञान अन्तर्मुख होकर ऐसे आत्मा को ही जानता है - प्रसिद्ध करता है - ध्याता है - लक्ष्य में लेता है। अज्ञानी तो, राग को और पर को जानने में रुके; उसी को ज्ञान मानते हैं, इसलिए वे राग के साथ ज्ञान को एकमेक करके; मानों ज्ञान लक्षण राग का ही हो, ऐसा मानते हैं; इसलिए उन्हें राग की ही प्रसिद्धि होती है, किन्तु राग से भिन्न ज्ञान की या आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती - इसी का नाम अधर्म है। यदि ज्ञान को राग से भिन्न जाने अर्थात् राग के साथ ज्ञान की एकता छोड़कर स्वभाव के साथ एकता प्रगट करे तो रागरहित ज्ञान लक्षण की और आत्मा की प्रसिद्धि हो - उसका नाम धर्म है। जो ज्ञान आत्मा को राग से भिन्न प्रसिद्ध करे, वही सच्चा ज्ञान है। जो ज्ञान आत्मा को तो प्रसिद्ध न करे और मात्र राग को ही प्रसिद्ध करे, वह वास्तव में ज्ञान ही नहीं है; क्योंकि वह तो राग में तन्मय हो गया है; इसलिए उसे ज्ञान ही नहीं कहते। ज्ञान आत्मा का लक्षण है; लेकिन कब? जबकि वह आत्मा को लक्ष्य बनाए तब। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञान द्वारा लक्ष्य में लेने योग्य आत्मा ही है।

जीव का लक्षण ज्ञान है, और ज्ञान स्वसंवेदन से सिद्ध है, ज्ञान स्वयं अपने को जानता है, ज्ञान को जानने के लिये ज्ञान से भिन्न किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती, इसलिए ज्ञान प्रसिद्ध है। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी गुण में स्व को या पर को जानने का सामर्थ्य नहीं है। ज्ञान स्व-पर का ज्ञाता है। ज्ञान, राग को जानता है परन्तु उसे करता नहीं है। ज्ञान स्व को जानता है और करता है - इस प्रकार अपने में ही दोनों बोल लागू होते हैं, और ज्ञान पर को जानता है किन्तु पर का कुछ करता नहीं है; इस प्रकार पर में एक ही बोल लागू होता है - ऐसे ज्ञान द्वारा पर की क्रिया की या राग की तो प्रसिद्धि नहीं होती, और मात्र पर को जानने की भी प्रसिद्धि नहीं होती, किन्तु अनन्त धर्म के चैतन्य पिण्ड ऐसे आत्मा की ही प्रसिद्धि होती है - इस प्रकार जो आत्मा की प्रसिद्धि करे, उसी ने ज्ञान को ज्ञानरूप से जाना कहा जाता है।

अज्ञानी जीव अपने स्वलक्ष्य को भूलकर ज्ञान द्वारा पर की प्रसिद्धि करने जाता है, उसे ज्ञान लक्षण की ही खबर नहीं है। लक्षण तो ऐसा होता है कि जो अपने लक्ष्य को बतलाये। यदि लक्ष्य

को न बतलाये तो वह वास्तव में लक्षण नहीं है; किन्तु लक्षणभास है। ज्ञान तो उसे कहते हैं कि जो आत्मा को ही लक्ष्य करे – बतलाये! यदि अपने आत्मा को न बतलाये तो वह ज्ञानाभास है। अपना ज्ञान वह अपने आत्मा का ही लक्षण है, इसलिये अपने ज्ञान द्वारा अपने अनन्त धर्मस्वरूप आत्मा को ही लक्षित करना चाहिए, ज्ञान को स्वोन्मुख करके आत्मा का अनुभव करना चाहिए। यही लक्षण-लक्ष्य को जानने का तात्पर्य है।

❀❀❀

ज्ञान आत्मा को प्रसिद्ध करता है; वह आत्मा अनन्त गुणों के समुदायस्वरूप है। ज्ञान के साथ ही अनन्त गुण विद्यमान हैं, उस प्रत्येक गुण के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं, तथापि द्रव्य से उन समस्त गुणों का एक ही भाव है; एक द्रव्य ही उन समस्त धर्मोंवाला है। आगे २७ वीं शक्ति में कहेंगे कि 'विलक्षण अनन्त स्वभावों से भावित एक भाव जिसका लक्षण है – ऐसी अनन्त धर्मत्व शक्ति है;' अर्थात् गुण अपेक्षा से प्रत्येक गुण का लक्षण भिन्न-भिन्न होने पर भी, उन सबके अभेद पिण्डरूप द्रव्य एक ही है।

❀ ज्ञान का लक्षण स्व-पर प्रकाशकपना,

❀ सम्यक्त्व का लक्षण निर्विकल्प प्रतीति,

❀ चारित्र का लक्षण एकाग्रता,

❀ आनन्द का लक्षण आह्लाद,

❀ अस्तित्व का लक्षण अपनी सत्तारूप होना,

❀ प्रभुत्व का लक्षण प्रतापवन्त स्वतन्त्रता से शोभायमान होना,

– इस प्रकार अनन्त गुणों का लक्षण भिन्न है; इसलिए लक्षण भेद से समस्त गुणों को परस्पर भेद है, तथापि द्रव्य तो समस्त गुणों का एकरूप पिण्ड है; ज्ञानमात्र आत्मा में समस्त धर्मों का समावेश हो जाता है। 'ज्ञान, वह आत्मा' – ऐसा कहते ही अनन्त धर्मों का एक-एक समूह लक्षित होता है, वह आत्मा है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र इत्यादि अनेक भेदों को ज्ञान जानता अवश्य है परन्तु उस ज्ञान द्वारा लक्षित तो अनन्त धर्मों से अभेद ऐसा आत्मा ही है। भेदों को जाननेवाला ज्ञान यदि मात्र भेद को ही लक्ष्य बनाए और अभेद आत्मा को लक्ष्य न बनाए तो वहाँ वास्तव में ज्ञान की ही प्रसिद्धि नहीं है किन्तु अकेले भेद की ही प्रसिद्धि है; ज्ञान की प्रसिद्धि के बिना आत्मा की प्रसिद्धि भी नहीं होती।

ज्ञान भेद को भी जानता है, किन्तु अभेद आत्मा के लक्ष्यपूर्वक भेद को जानता है।

ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक होने से वह पर को और रागादि को जानता अवश्य है परन्तु पर को, राग को जानने से ज्ञान लक्षण पर का या राग का नहीं हो जाता; ज्ञान लक्षण तो आत्मा का ही रहता है; अर्थात्, पर को जाननेवाला ज्ञान भी आत्मा के साथ एकता रखकर पर को जानता है; पर के, राग के साथ एकता करके नहीं जानता। ज्ञान, राग को जाने, वहाँ वह ज्ञान, राग का लक्षण नहीं हो जाता और राग, ज्ञान में ज्ञात हो; इसलिए कहीं वह राग, ज्ञान का लक्षण नहीं हो जाता; दोनों भिन्न ही रहते हैं। इसी प्रकार अपने गुणों में भी सूक्ष्म, बात लें तो ज्ञान है, वह श्रद्धादि के लक्षण को जानता अवश्य है परन्तु श्रद्धा के लक्षण द्वारा ज्ञान लक्षित नहीं होता, और श्रद्धा को जाननेवाला ज्ञान उस श्रद्धा का लक्षण नहीं हो जाता; क्योंकि ज्ञान द्वारा मात्र श्रद्धागुण ही लक्षित नहीं होता किन्तु ऐसे-ऐसे अनन्तगुणों की मूर्ति आत्मा लक्षित होता है। ज्ञान दूसरे को जानता अवश्य है परन्तु दूसरे का लक्षण नहीं होता। अभेद आत्मा के लक्ष्यपूर्वक भेद को जाननेवाला ज्ञान भी अभेद आत्मा की ही प्रसिद्धि करता है। जहाँ ज्ञान ने अभेद आत्मा को लक्ष्य में लिया, वहाँ लक्षण और लक्ष्य-दोनों एक हो गये-अभेद हो गये, और तभी वह ज्ञान आत्मा का लक्षण हुआ; उस ज्ञान लक्षण ने अनन्त धर्मवाले आत्मा को प्रसिद्ध किया। इसी का नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, वही प्रथम धर्म है।

आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं, उन सबको जाननेवाला तो ज्ञान है; वह ज्ञान प्रत्येक शक्ति को भिन्न-भिन्न प्रसिद्ध नहीं करता परन्तु अनंत शक्ति के पिण्डरूप आत्मा को प्रसिद्ध करता है। भिन्न-भिन्न अनंतधर्म होने पर भी वे समस्त धर्म एक आत्मद्रव्य के ही हैं; ऐसे अनंत धर्म स्वरूप आत्मा को ज्ञान प्रसिद्ध करता है। ज्ञान लक्षण को जाने बिना ऐसा आत्मा अनुभव में-लक्ष में नहीं आता। अभेद आत्मा को लक्ष में लेते हुए 'ज्ञान वह आत्मा'—ऐसा लक्ष्य-लक्षण भेद बीच में आ ही जाता है; जिसने आत्मा को कभी नहीं जाना वह जीव ज्ञान लक्षण के बिना सीधा लक्ष्य को (आत्मा को) नहीं जान सकता। इसीलिये आचार्यदेव कहते हैं कि हमने आत्मा को ही प्रसिद्ध करने के लिये ज्ञान लक्षण बतलाया है। ज्ञान लक्षण अनंत धर्मवाले आत्मा को प्रसिद्ध करता है—बतलाता है।

देखो, आज नूतन वर्ष के प्रारम्भ में ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा की प्रसिद्धि की अपूर्व बात आयी है। अहो! सबको जाननेवाला ज्ञान है... परन्तु वह एक आत्मा को ही प्रसिद्ध करता है। ज्ञान जानता सबको है परन्तु वह सभी का लक्षण नहीं है; सबको जाननेवाला ज्ञान आत्मा का ही लक्षण

है, अर्थात् आत्मा का लक्ष्य में रखकर सबको जाने – ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। इस प्रकार ज्ञान लक्षण अपने चैतन्यमूर्ति आत्मा को ही प्रसिद्ध करता है।

अहो! ज्ञान से प्रसिद्ध होनेवाला अनन्तधर्म का समूह यह आत्मा ही अपना स्वामी है; ऐसे चैतन्यमूर्ति अनन्त गुण, अनन्त शक्ति के स्वामी आत्मा को देखते ही हमारे अनादिकालीन दु:ख और दुर्भाग्य दूर हो गये। भगवान आत्मा स्वयं अपनी अनन्त प्रभुता का पिण्ड विमलस्वरूप है; उसे देखते ही सिद्ध भगवान जैसे सुख का अनुभव हुआ; इसलिए अनादिकालीन दु:ख तो दूर हो गये और बाह्य में दुर्भाग्यरूप प्रतिकूलता भी दूर हो गयी। धर्मी को जगत में ऐसी कोई प्रतिकूलता निमित्तरूप नहीं है कि जो उसे साधकभाव में विघ्न करे। जहाँ स्वसन्मुख होकर अन्तर के चैतन्य भगवान नित्य चिदानन्दस्वामी को श्रद्धा-ज्ञान में धारण किया, वहाँ बाह्य प्रतिकूलताओं की चिन्ता ही कौन करता है? देखो, यह नूतन वर्ष का माङ्गलिक होता है। मङ्गल अर्थात् जो सुख दे और दु:खों को दूर करे। अनन्त शक्ति सम्पन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा की दृष्टि करने से अपूर्व सुख = सम्पत्ति की भेंट हुए और दु:ख दूर हुए, वही सच्चा मङ्गल है।

❀❀❀

ज्ञान से लक्ष्य में आनेवाला आत्मा कैसा है, उसकी यह महिमा है। ज्ञान लक्षण से उसे लक्ष्य में लिए बिना उसकी महिमा समझ में नहीं आती। जैसे – आठ अङ्कवाली कोई संख्या (८७६५४३२१) लिखी हो और उसमें एक नवमा अङ्क मिला दें (९८७५४३२१) तो उसने करोड़ों की संख्या बढ़ायी है। जिसे गणित की खबर नहीं है, उसे ऐसा लगता है कि यह एक नव का अङ्क रखा; लेकिन वास्तव में तो उस नव में करोड़ों का भाव समाया हुआ है। उसी प्रकार यहाँ 'ज्ञान आत्मा का लक्षण है' – ऐसा आचार्य भगवान ने कहा है, उसमें अनेक सूक्ष्म न्याय है, अत्यन्त गम्भीरता है। अन्तर्मुख होकर ध्यान में ले तो उसकी गम्भीरता समझ में आ सकती है। साधारण लोगों को ऐसा लगता है कि जो शरीर, कपड़े, लकड़ी आदि को जानता है, उस ज्ञान की बात है और वही आत्मा का लक्षण है परन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ तो ज्ञान को अन्तरस्वभाव सन्मुख करके आत्मा को जाने, उसकी बात है और वह ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है। अनन्त गुणों से परिपूर्ण अपना आत्मा ही ज्ञान का लक्ष्य है। ऐसे लक्ष्य-लक्षण को जो पहचान ले, उसे सम्यग्ज्ञान हुए बिना नहीं रहता।

गुणों में भेद डालना भी ज्ञान का लक्ष्य नहीं है; ज्ञान उन गुणों को जानता अवश्य है परन्तु उसका लक्ष्य तो एक आत्मा ही है। यहाँ भेद को सिद्ध करने के लिए ज्ञान और आत्मा का लक्षण-

लक्ष्य भेद नहीं किया परन्तु ज्ञान आत्मोन्मुख होकर अभेद आत्मा को ही जानता है – इस प्रकार ज्ञान लक्षण द्वारा अभेद आत्मा की प्रसिद्धि करने के लिए ही यह लक्षण–लक्ष्यभेद है। यद्यपि स्व–पर, द्रव्य–गुण–पर्याय, निश्चय–व्यवहार – इन सबको जाननेवाला तो ज्ञान ही है परन्तु ज्ञान में स्व–पर प्रकाशकपना कब होता है? जब वह निश्चित करके आत्मा को लक्ष्य बनाए कि ज्ञान लक्षण आत्मा का ही है, तभी उस ज्ञान में स्व–पर प्रकाशकपना विकसित होता है और वह ज्ञान ही स्व–पर को या निश्चय–व्यवहार आदि को भलीभाँति जान सकता है।

ज्ञान लक्षण है और आत्मा लक्ष्य है परन्तु वे लक्षण और लक्ष्य कब होते हैं? ज्ञान लक्षण से आत्मा को लक्ष्य में लेते हुए ज्ञान अन्तर्मुख होता है; इसलिए अन्तर्मुख ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है। जब लक्षण और लक्ष्य की सन्धि करे अर्थात् ज्ञान को आत्मोन्मुख करके उस ज्ञान के द्वारा अखण्ड आत्मा को लक्ष्य में ले तभी आत्मा लक्ष्य और ज्ञान लक्षण होता है।

जहाँ ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा को देखा कि तुरन्त ही केवलज्ञान होने की प्रतीति हो जाती है, क्योंकि आत्मा में वैसी शक्ति भरी हुई है। उस शक्ति की प्रतीति में व्यक्ति की प्रतीति भी साथ में हो ही जाती है। आत्मा का लक्षण ज्ञान है, वह ज्ञान स्व–पर प्रकाशक है, और उसमें राग का अभाव है – ऐसा जिसने निश्चित किया, उसे आत्मोन्मुख होने से ज्ञान का स्व–पर प्रकाशक सामर्थ्य पूर्ण प्रगट हो जाएगा और रागादि बिलकुल दूर हो जायेंगे। ज्ञान ही आत्मा है – ऐसा निश्चित किया, वहीं श्रद्धा में से निमित्त का – राग का – व्यवहार का अबलम्बन उड़ गया और ज्ञान द्वारा अखण्ड आत्मा ही आदरणीय है – ऐसा निश्चित हो गया। जो ज्ञान आत्मा को न जाने, वह ज्ञान आत्मा का लक्षण नहीं होता। जो ज्ञान का लक्ष्य है, उसे प्रगट किये बिना लक्षण किसका?

प्रश्न – पहले ज्ञान ज्ञात होता है या आत्मा?

उत्तर – दोनों साथ ही ज्ञात होते हैं। आत्मा को लक्ष्य में लिए बिना ज्ञान को लक्षण किसका कहना? आत्मा को लक्ष्य में लेकर ज्ञान उसमें अभेद हुआ, तब आत्मा लक्ष्य हुआ और ज्ञान उसका लक्षण हुआ। इस प्रकार लक्षण और लक्ष्य की प्रसिद्धि एक साथ ही है।

प्रश्न – यदि दोनों एक ही साथ ज्ञात हैं तो फिर ज्ञान और आत्मा का भेद तो व्यर्थ ही गया?

उत्तर – अभेद की ओर ढले, वहाँ भेद को उपचार से साधन कहा जाता है। अभेद के लक्ष्यरहित मात्र भेद तो वास्तव में व्यर्थ ही है। अभेद में जाते हुए बीच में भेद आ जाते हैं परन्तु उस भेदरूप व्यवहार का निषेध करके अभेद में ढलता है, इसलिए उस भेद को व्यवहार साधन कहा

जाता है, परन्तु निश्चयरहित अकेला व्यवहार तो व्यर्थ ही है। पहले ज्ञान को जाना और पश्चात् आत्मा को जाना – ऐसे भेद वास्तव में नहीं है। यह लक्षण और लक्ष्य – ऐसे दो भेदों पर लक्ष्य रहे, तब तक विकल्प की प्रसिद्धि है किन्तु आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है; आत्मोन्मुख होकर जहाँ आत्मा की प्रसिद्धि हुई – आत्मा का अनुभव हुआ, उस समय तो लक्ष्य और लक्षण ऐसे दो भेदों पर लक्ष्य नहीं होता, उसे तो लक्ष्य और लक्षण दोनों अभेद होकर एक साथ प्रसिद्ध होते हैं। दूसरों को समझाने के लिए भेद से ऐसा कहा जाता है कि यह जीव ज्ञान लक्षण से आत्मा को समझा, यह व्यवहार है; परन्तु वह व्यवहार, अभेद आत्मा का प्रतिपादन करने के लिए है।

ज्ञान किसका लक्षण ?... आत्मा का ! ज्ञान, वह लक्षण—ऐसा लक्ष्य में लेने से उसका लक्ष्य भी साथ ही लक्ष में आ जाता है। 'ज्ञान, वह आत्मा' – ऐसा कहने से लक्ष्य-लक्षण का भेद पड़ता है, तथापि आत्मा और ज्ञान दोनों को जाना, तभी ज्ञान को लक्षण और आत्मा को लक्ष्य कहा गया न ? लक्ष्य को पहचानने से पूर्व 'यह लक्षण इसका है' – ऐसा किस प्रकार निश्चित किया ? – इसलिए लक्षण और लक्ष्य (ज्ञान और आत्मा) यह दोनों एक साथ ही जाने जाते हैं।

❀❀❀

अहो ! यह तो आत्मतत्त्व की अन्तर की अपूर्व बात है। जिस आत्मतत्त्व को अनादि काल से कभी नहीं जाना, उस आत्मा का अनुभव कैसे हो, उसकी यह बात है। जिसे आत्मा के अनुभव की रुचि हो, उसे यह बात क्लिष्ट नहीं लगना चाहिए, किन्तु इसकी महिमा आना चाहिए कि अहा ! यह मेरे आत्मा की कोई अपूर्व बात चलती है। समझने में कठिन लगे तो अन्तर में उसकी महिमा लाकर समझने के लिए विशेष प्रयत्न करना चाहिए; किन्तु समझ में न आने से प्रमाद लाये तो उसे आत्मा की अरुचि और द्वेष है। वास्तव में यह क्लिष्ट नहीं है किन्तु अमृत जैसा है, परम आनन्दरूप है। जो अन्तर में लक्ष्य करके समझे, उसे उसकी खबर पड़ती है।

आत्मा को ज्ञानमात्र कहा; वहाँ उस ज्ञानमात्र में अचलितरूप से स्थापित दृष्टि द्वारा, जो क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तित अनन्त धर्म समूह ज्ञात होता है, वह सब वास्तव में एक आत्मा ही है; इसलिए ज्ञान द्वारा अनन्त धर्मवाला आत्मा ही प्रसिद्ध होता है। क्रमशः होनेवाली निर्मल पर्यायें और एक साथ प्रवर्तित अनन्तगुण – वे सब ज्ञानमात्र में समा जाते हैं; इसलिए 'ज्ञानमात्र' भाव को दृष्टि में लेते हुए अनन्तगुण-पर्यायों से अभेद आत्मा ही दृष्टि में आ जाता है। इस प्रकार ज्ञान द्वारा आत्मा ही प्रसिद्ध होता है। इसलिए ज्ञान को ढाल अपने द्रव्य में... तो उस स्वोन्मुख हुआ ज्ञान

लक्षण द्वारा लक्ष्य ऐसे आत्मा की प्रसिद्धि हो! 'आत्मा ज्ञानमात्र है' – ऐसा कहा वहाँ, ज्ञानमात्र को लक्ष्य में लेते हुए, अकेला ज्ञानगुण पृथक् होकर लक्ष्य में नहीं आता, किन्तु ज्ञान के साथ प्रवर्तमान अनन्त धर्मों के समूहरूप चैतन्यस्वभाव का पिण्ड आत्मा ही लक्षित होता है।

जैसे 'मिश्री मीठी है' – ऐसा कहने से मिश्री में मैल, बर्तन आदि का अभाव सिद्ध होता है परन्तु मीठेपन के साथ विद्यमान मिश्री की सफेदी, वजन आदि का अभाव नहीं होता; उसी प्रकार 'आत्मा ज्ञानमात्र है' – ऐसा कहने से आत्मा में पर का और विकार का तो निषेध होता है परन्तु ज्ञान के साथ आत्मा के जो अनन्तगुण विद्यमान हैं, उनका कहीं निषेध नहीं हो जाता! 'आत्मा ज्ञानमात्र है' – ऐसा कहते ही अस्तित्व धर्म भी साथ आ गया; ज्ञान के अतिरिक्त देहादि पररूप से आत्मा नहीं है – ऐसा नास्तित्व धर्म भी साथ आ गया; ज्ञान नित्य स्थायी है, इसलिए नित्यपना भी आया और प्रतिलक्षण बदलता है, इसलिए अनित्यपना भी आया; ज्ञान के साथ स्वच्छता, प्रभुता आदि धर्म भी आये – इस प्रकार ज्ञान कहते ही अनन्तधर्मों का पिण्ड लक्ष्य में आता है।

पर जीव बचे या न बचे, वह तो उसकी स्वतन्त्र किया है, यह ज्ञान के अधीन नहीं है परन्तु पर की दया पालन करने का विकल्प उठे, वह भी आत्मा से बाहर है। आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहने से उस विकल्प का निषेध हो जाता है, परन्तु आत्मा के अनन्त धर्मों में से किसी भी धर्म का व्यवच्छेद नहीं होता।

ज्ञानमात्र भाव के साथ जो भी लक्षित होता है, वह सब आत्मा है और जो लक्षित नहीं होता, वह सब आत्मा से भिन्न है – ऐसा जानना... अर्थात् ज्ञानमात्र भाव से भिन्न ऐसे समस्त परद्रव्य और परभावों का लक्ष्य छोड़कर ज्ञानादि–अनन्त धर्म के पिण्डरूप आत्मद्रव्य को लक्ष्य में लेना! यही आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहने का तात्पर्य है।

'ज्ञानमात्र' कहने से अकेला ज्ञान ही लक्ष्य में नहीं आता परन्तु अनन्त धर्मों के समूहरूप पूर्ण आत्मा ही लक्ष्य में आता है। इसी कारण आत्मा का ज्ञानमात्ररूप से व्यपदेश किया है। ज्ञानमात्र कहने से एक में अनेकपना आ जाता है, इसलिए 'ज्ञानमात्र' कहने से भी अनेकान्तमूर्ति आत्मा ही प्रसिद्ध होता है – ऐसा सिद्ध हुआ।

इस प्रकार आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है, तथापि उस ज्ञान लक्षण द्वारा अनन्त धर्मवाला आत्मा ही प्रसिद्ध होता है – ऐसा सिद्ध करके,अब आचार्यदेव उस अनन्तधर्मवाले आत्मा की कुछ शक्तियों का वर्णन करना चाहते हैं, इसलिए उसकी भूमिकारूप से प्रथम शिष्य द्वारा प्रश्न कराते हैं और पश्चात् उसका उत्तर देते हुए ४७ शक्तियों का वर्णन करेंगे।

पुण्य और धर्म

[जैन दर्शन शिक्षण वर्ग की परीक्षा में पहला प्रश्न वैशाख अंक में दिया था, उसके उत्तररूप निबंध]

अनेक अज्ञानी जीव, पुण्य और धर्म—दोनों को एक ही वस्तु मानते हैं, किन्तु वास्तव में तो पुण्य और धर्म दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। धर्म तो आत्मा के आश्रय से होता है और पुण्य पर के आश्रय से होता है; धर्म का फल मोक्ष और पुण्य का फल संसार है; धर्म आत्मा का शुद्धभाव है और पुण्य अशुद्धभाव है।

धर्म आत्मा की निर्दोष-निर्विकारी पर्याय है; धर्म से आत्मा को सच्चे सुख की प्राप्ति होती है; धर्म त्रिकाली आत्मा के आधार से होता है, विकार अथवा परपदार्थ के लक्ष से धर्म नहीं होता। किन्तु अज्ञानी जीव, पुण्य में और बाह्य क्रिया में धर्म मानता है, वह अज्ञानी जीव, धर्म का स्वरूप नहीं जानता। धर्म तो वीतरागभाव है। पुण्य, रागभाव है।

पुण्य तो यह जीव अनादिकाल से करता आ रहा है, किन्तु धर्म अनादिकाल में एक समयमात्र भी नहीं किया। पुण्य से तो बाह्य सामग्री प्राप्त होती है, जबकि धर्म से आत्मा के केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी मिलती है। पुण्य तो अज्ञानी और अभव्य जीव भी करते हैं, परन्तु उन्हें आत्मा के भान बिना किंचित्मात्र धर्म नहीं होता।

जो सिद्ध हुए और सच्चा सुख प्राप्त किया, उन्होंने धर्म से ही वह प्राप्त किया। पुण्य से धर्म नहीं होता और न उससे सच्चे सुख की प्राप्ति होती है, पुण्य से तो बंधन होता है और बंधन संसार-परिभ्रमण का ही कारण है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - वह आत्मा की निर्दोष-निर्विकारी पर्याय है; उसे मोक्षमार्ग कहो, संवर कहो, धर्म कहो, रत्नत्रय कहो अथवा आत्मा की शांति का उपाय कहो—सब एक ही है।

इसके अतिरिक्त पुण्य तो विकारी पर्याय है, इसलिये पुण्य वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है; पुण्य संवर नहीं है, धर्म नहीं है, रत्नत्रय नहीं है, और न वह आत्मशांति का उपाय है।

जैसे—'चौंसठ पुटी' लेंडी पीपर को घिसने से जो चरपराहट प्रगट होती है, वह उसमें

अप्रगटरूप से भरी थी, वही प्रगट हुई है, वह चरपराहट कहीं बाहर से अर्थात् पत्थर में से या हाथ में से नहीं आती। उसीप्रकार आत्मा में धर्म (शांति) शक्तिरूप से भरा हुआ है, उसकी पहिचान-श्रद्धा, ज्ञान करके उसमें एकाग्र होने से वह प्रगट होता है। वह धर्म कहीं बाहर से अर्थात् देह की क्रिया या पैसादि में से नहीं आता। जिसप्रकार लेंडी पीपर की चरपराहट उसी में से आती है; उसीप्रकार आत्मा की धर्मरूपी चरपराहट आत्मा के स्वभाव में से ही प्रगट होती है, पुण्य में से या पर-पदार्थों में से वह नहीं आती। पुण्य और धर्म का स्वरूप पृथक्-पृथक् जैसा है, उसीप्रकार उसे जानना चाहिए।

भगवान ने नवतत्त्व कहे हैं:—जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष। इनमें से संवर और निर्जरातत्त्व में धर्म का समावेश होता है; किन्तु पुण्यतत्त्व में कहीं धर्म का समावेश नहीं होता। अज्ञानीजन पुण्य से धर्म मानते हैं, वे पुण्यतत्त्व को और संवर-निर्जरातत्त्व को एक ही मानते हैं, इसलिये वास्तव में वे नवतत्त्वों को नहीं समझे हैं। और इसी से उन्होंने सर्वज्ञ, तीर्थंकर भगवान अथवा ज्ञानियों को भी वास्तव में नहीं माना है। इसलिये जिज्ञासुओं को पुण्य और धर्म - इन दोनों को पृथक्-पृथक् जानना चाहिए।

अनेकान्तगर्भित सम्यक् नियतवाद

(क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में आ जानेवाला अनेकान्तवाद)

वस्तु में तीनों काल की अवस्थाएँ क्रमबद्ध ही होती हैं; कोई अवस्था उल्टी-सीधी नहीं होती—ऐसा ही वस्तु स्वभाव है। वस्तुस्वभाव के इस महान सिद्धान्त का रहस्य न समझनेवाले अज्ञानी लोग, उस पर मिथ्या नियतवाद अथवा एकान्तवाद होने का आरोप करते हैं; यहाँ उसका निराकरण किया जाता है।

नियत के साथ ही पुरुषार्थ, ज्ञान, श्रद्धादि धर्म भी विद्यमान ही हैं। नियतस्वभाव के निर्णय के साथ विद्यमान सम्यक् पुरुषार्थ को, सम्यक् श्रद्धा को, सम्यक् ज्ञान को, स्वभाव को—आदि को स्वीकार न करे, तभी एकान्त नियतवाद कहलाता है।

अज्ञानी तो, नियतवस्तु स्वभाव के निर्णय में आ जानेवाला ज्ञान का पुरुषार्थ, सर्वज्ञ के निर्णय का पुरुषार्थ, स्वसन्मुख श्रद्धा-ज्ञानादि को स्वीकार किये बिना ही नियत की (—जैसा होना होगा, सो होगा—ऐसी) बात करते हैं, इसलिये उसे तो एकांत नियत कहा जाता है।

परन्तु ज्ञानी तो नियत वस्तुस्वभाव के निर्णय में साथ ही विद्यमान ऐसे सम्यक् पुरुषार्थ को, स्वसन्मुख ज्ञान-श्रद्धा को, स्वभाव को, काल को, निमित्त को—सभी को स्वीकार करते हैं; इसलिये वह मिथ्यानियत नहीं है परन्तु सम्यक् नियतवाद है, उसी में अनेकान्तवाद आ जाता है।

नियत को और उसके साथ दूसरे अनियत को—(पुरुषार्थ, काल, स्वभाव, ज्ञान, श्रद्धा, निमित्तादि को) भी ज्ञानी स्वीकार करते हैं, इसलिये उनके नियत-अनियत का मेल हुआ। [यहाँ 'अनियत' का अर्थ 'अक्रमबद्ध' नहीं समझना, परन्तु नियत के साथ विद्यमान नियत के अतिरिक्त पुरुषार्थ आदि धर्मों को यहाँ 'अनियत' कहा है—ऐसा समझना।] इसप्रकार वस्तु में 'नियत' 'अनियत' दोनों धर्म एक समय एक साथ हैं; इसलिये अनेकान्त स्वभाव है, और उसकी श्रद्धा में अनेकान्तवाद है।

क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ आदि का क्रम भी साथ ही है, इसलिये क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति में पुरुषार्थ आदि की प्रतीति भी आ ही जाती है। पुरुषार्थ कहीं क्रमबद्धपर्यायों से दूर नहीं रह जाता; इसलिये नियत के निर्णय में पुरुषार्थ उड़ नहीं जाता परन्तु साथ ही आ जाता है। इसलिये नियत स्वभाव की श्रद्धा, वह अनेकान्तवाद है—ऐसा समझना। जो वस्तु की पर्यायों का नियत-क्रमबद्ध होना न माने, अथवा तो क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में विद्यमान सम्यक्-पुरुषार्थ को न माने, उसे अनेकान्तमय वस्तुस्वभाव की खबर नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है।

—श्री समयसार कलश २ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से।

भगवान श्री कुंदकुंद-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी-प्रकाशन

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये जिज्ञासु निम्नलिखित पुस्तकों की स्वाध्याय अवश्य करें !

समयसार प्रवचन – भाग १	६–०–०
समयसार प्रवचन – भाग २	५–०–०
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें	१–६–०
दसलक्षणधर्म	०–१२–०
सम्यग्दर्शन	२–८–०
भेदविज्ञानसार	२–०–०
मूल में भूल	०–१२–०
मुक्ति का मार्ग	०–१०–०
आत्मधर्म की वार्षिक फाइलें	३–१२–०

उपरोक्त पुस्तकों में ''सम्यग्दर्शन'' नाम की पुस्तक अभी प्रगट हुई है, जो प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य पढ़ने योग्य है।

(डाक व्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: मुद्रक-प्रकाशक :

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये

जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकड़िया